International Journal of Applied Research 2016; 2(10): 746-749

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2016; 2(10): 746-749
www.allresearchjournal.com
Received: 21-08-2016
Accepted: 25-09-2016

विशाल कुमार झा
ब्लॉक नं.-21, ल्पॉट नं.-164
प्रेमचन्द्र मार्ग, राजेन्द्र नगर
पटना, बिहार, भारत

Corresponding Author:
विशाल कुमार झा
ब्लॉक नं.-21, ल्पॉट नं.-164
प्रेमचन्द्र मार्ग, राजेन्द्र नगर
पटना, बिहार, भारत

संस्कृत साहित्य की सर्वाङ्गीण प्रगति का महत्त्व

विशाल कुमार झा

प्रस्तावना:

गुप्त साम्राज्य में देववणी को प्रश्रय मिला। संस्कृत साहित्य की सर्वाङ्गीण प्रगति और उनके चरमाभ्युदय का एकमात्र अपूर्व युग गुप्तकाल रहा है।

गुप्त सम्राटों की विद्याभिरुचि और उनके विद्वत्सेवी स्वभाव के कारण संसकृत साहितय का पुण्य-प्राङ्गण असंख्य अनुपम कृतियों से परिणूर्ण रहा है। सम्राट समुद्रगुपत और चन्द्रगुपत द्वितीय विक्रमादित्य का शासनकाल इस दिशा में विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, काव्य और नाटक, प्राय: सभी प्रधान विषयेां पर इस युग में अनुपम कृतियों का निर्माण हुआ।

बौद्धधर्म के हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों पर भपूर ग्रन्थ रचना का यही समय है।

बौद्धसाहित्य के निर्माण के लिए गुप्तयुग प्रसिद्ध है। यही बौद्धन्याय के आविर्भाव का युग था। बौद्धसाहित्य के इतिहास में गुप्त युग को स्वर्णयुग माना गया है। जैनधर्म भी इस युग में पनप उठा, यही था जैन-आगमों की क्रमबद्ध व्यवस्था का समय।

गुप्तसाम्राज्य के शान्तिमय वातावरण में अनुकूल परिसिीतियेां को पाक तत्कालीन भारत के प्रमुख तीनों धर्म - ब्राह्मण, जैन और बौद्ध खूब फूले और फले।

पारस्परिक सहयोग और मैत्रीभाव के कारण तीनों धर्म निर्द्वनद्व होकर अना-अपना विकास करते रहे।

गुप्तयुग प्रधानतया भागवत धर्म के पुनरभ्युदय का युग था। जिस भारतीय वसुन्धरा पर बौद्धधर्म का अभ्युदय हुआ और जिसके वचनामृत प्रभाव से सुदूर देश भी अस्पृष्य न रह सके, अपनी जन्मभूमि भारत में ही उसको ब्राह्मण धर्म की समन्वयात्मक उदारता एवं संशोधित स्वरूप ने आत्मसात् कर लिया और वही ब्राह्मण धर्म बाद में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तकके विस्तृत भू-भाग में हिन्दू धर्म के नाम से प्रचलित हुआ।

वैदकधर्म की पशुहिंसा और कर्म काण्ड के प्रतिबन्धों से उस समय समाज की आस्था कम हो गई थी। उपनिषदों का शुष्क ब्रह्मवाद भी समाज को वशीभूत करने में सफल न रहा। फलत: भक्तिप्रधान भागवत धर्म का उदय हुआ और विष्णु, शिव, सूर्य, देवी और देवताओं की पूजा अर्चना की प्रथाओं ने प्रसिद्धि प्राप्त की। जिस प्रकार सम्राट् अशोक के समय में बौद्धधर्म की उन्नति हुई, उसी प्रकार गुप्त साम्राज्य में वैष्णवधर्म चरमोन्नति को प्राप्त हुआ।

यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं वैष्णव धर्म के अनुयायी रहे किनतु जैन-बौद्ध धर्मो की अभ्युन्नति के लिए उन्होंने यथेष्ट सुविधाएँ प्रदान की। राजधर्म होने पर भी वैष्णवधर्म बौद्ध-जैन धर्मो का अविरोधी बना रहा। हिन्दू मन्दिरों की भाँति जेन और बौद्ध मन्दिरों के निर्माणार्थ गुप्त नरेशों ने प्रचुर धन व्यय किया। धार्मिक उदारता की दृष्टि से गुप्त युग को 'धर्म निरपेक्ष साम्राज्य' कहा जा सकता है।

उक्त धार्मिक दृष्टिकोण को दृगङ्गीभूत करने के लिए गुप्त साम्राज्य के साहित्यिक विकास के लिए इतिहासकारों ने उसको तीन विभागों में विभक्त किया है- ब्राह्मणसाहित्य, बौद्धसाहित्य और जैनसाहित्य। इन तीनों धर्मो के साहितय, धर्म, दर्शन, कोश, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, कामशास्त्र, काव्यशास्त्र, विज्ञान

और शिल्पशास्त्र आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआं। इस युग मे संस्कृतसाहित्य के निर्माणार्थ महानृ विभूतियों का आविर्भाव हुआ, जिनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का योग पाकर साहित्यगगन का कोना-कोना प्रकाशमान हो उठा।

दर्शनशास्त्र

भारतीय ज्ञान जिज्ञासा के पूर्व ऐतिहासिक संस्मरण उसके दर्शन हैं, जिनकी संख्या छः हैं। भारतीय दर्शनकारों ने पाश्चात्य दार्शनिकों की भाँति दर्शनविद्या को केवल बौद्धिक गवेषणा तक ही सीमित न रखकर उसको व्यावहारिक रूप में ग्रहण किया है। दर्शनविद्या के द्वारा चिन्तित और सुतर्कित उसका व्यावहारिक रूप ही भारतीय धर्म का प्रतिष्ठाता है। इसलिए भारती साहित्य में विचारशास्त्र (दर्शन) और आचारशास्त्र (धर्म) दोनों को इस प्रकार आबद्ध कर दिया गया है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है।

श्रुतिकालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान ही भारतीय षड्दर्शनों का कारण और प्रज्ञामूलक तत्त्वज्ञान उपनिषदों का जन्मदाता है। भारतीय दर्शनों में ऐतिहासिक अध्ययन के लिए उन्हें तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है- सुत्रयुग, भाष्ययुग और वृत्तियुग।

गुप्तयुग दर्शनों के भाष्य का युग है। दर्शनशास्त्र के इतिहास में भाष्ययुग का बड़ा महत्त्व है क्योंकि इसी युग में भारतीय दार्शनिकों ने विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। गुप्तयुग में न्याय, वैशेशिक, सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन पर महत्त्पपूर्ण भाष्य कृतियों का निर्माण हुआ।

न्यायदर्शन

न्यायदर्शन के आदि प्रणेता अक्षपाद महर्षि गौतम 500 ई.पू. हुए हैं। उनके न्यायसूत्रों पर प्रथम प्रामाणिक भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन हैं। वात्स्यायन इनका गोत्रनाम है। इनका वास्तविक नाम पक्षिलस्वामी है। इतिहासकारों ने दक्षिणात्य कांची निवासी बतलाया है। तत्कालीन विद्याकेन्द्र कांची नगरी थी।

आचार्य वात्स्यायन के स्थितिकाल के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं।

इतना तो स्पष्ट है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक आचार्य दिङ्नाग ने वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' के खण्डनार्थ 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना की।

सामान्यतया वात्स्यायन का स्थितिकाल तीसरी-चौथी शताब्दी बैठता है। सम्भवतः घटोत्कचगुप्त या उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में आचार्य वात्स्यायान का स्थितिकाल रहा होगा।

न्यायदर्शन की परम्परा में द्वितीय गुप्तकालीन नैयायिक उद्योतकर हुए। उन्होंने 'न्याय-वार्तिक' की रचना कर वात्स्यायनभाष्य पर किये गये बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के आक्षेपों का प्रतीकार किया। बौद्ध-नैयायिक वसुबन्धु, समुद्रगुप्त के अन्तरङ्ग मित्र थे। बौद्ध-न्यायिक दिङ्नाग भी गुप्तकालीन थ। अनुश्रुतियों के अनुसार दिङ्नाग प्रखर आलोचक था। यहाँ तक कि उसने कालिदास की कविता की भी आलोचना की थी एवं तत्कालीन कवियों को भी आलोडित किया था।

कुन्दमाला की शैली नितान्त सरस एवं सरल है। यथा-

''लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति रमेण लोक परिवादभयाकुलेन।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्।।''

अर्थात् लङ्कापति रावण के दरबार में दीर्घकाल क रही, इस हेतु लोक-दोषारोपन के भय से कातर हुए राम ने अपने राज्य क्षेत्र से निष्कासित दोहद भार से लदी सीता को लक्ष्मण वन ले जाने के लिए खींचते हैं। काव्यस्थाना का करुण दृश्य स्थाति है। (कुन्दमाला अं. 1/3)

जो विद्वान् इस प्रकार के मौलिक चिन्तन में भी कुन्दमाला पर भवभूति का प्रभाव देखते हैं वे सत्कवि हैं। यह तो सर्वथा न्यायसङ्गत है कि पहले भवभूति के उत्तररामचरित को पढ़कर पश्चात् कुन्दमाला का अवलोकन करनेवाले या पाश्चात् उत्तररामचरित नाटक का मनन करने वाले जो है वे दिङ्नाग से प्रभावित भवभूति को, भवभूति से प्रभावित दिङ्नाग को स्व-स्व प्रभावभावित अन्तस्तल से स्पर्श कर ब्रह्मानन्दसोदर संज्ञा को प्राप्त होंगे ही। मर्मस्पर्शी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रकृतिचित्रण में दिङ्नाग-कालिदास दोनों में कौन समर्थ हैं इसे निम्नाङ्कित दोनों कवियों के पद्यों पर विचार-विमर्श किया जा सकता है। दोनों के पद्यों में कितना साम्य प्रतीत होता है: -

''एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्च
इमाश्च शेकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्य त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवी
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः।।''
- कुन्दमाला, 1/8

(देवी सीता को देखकर ये हरिण घास छोड़कर देखते हैं, शोकाकुल ये हंस दैन्य के साथ रोते हैं, मयूर भी नाटना छोड़ देते हैं, पशुयोनि मे प्राप्त ये उत्तम हैं, किन्तु मनुष्य नहीं।।18।।)

''नृत्यम् मयूरः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपातान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुः खभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि।। - रघुवंश 14/69

(''सीता का रुदन सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष पुष्पों के आँसू गिराने लगे और हिरणियों ने मुँह से भरी घास का कौर गिरा दिया, इस प्रकार सीताजी के दुःख से दुःखी होकर सारा अरण्यप्रान्त रोने लगता है।'')

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चतुर्थ अङ्कस्थ चौदहवें श्लोक में भी उपर्युक्त भावों का अवतरण किया गया है। प्रियंवदा पात्र के मुख से शकुन्तलावियोगजन्य व्यथा की अभिव्यञ्जना व्यक्त करायी जाती है -

"उद्गर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चनित अश्रु इव लताः।।'' (अ.शा. 4/14)

(''हरिणी ने अपने मुँह से कुश का ग्रास उगल दिया है, मोरनी ने नाचना छोड़ दिया है और लताएँ पीले पत्तों को गिराकर मानों आँसू गिया रही है।'')

भाव यह है कि दिङ्नाग एवं कालिदास की सीता के वियोग में तपोवन के पशु-पक्षी, वृक्ष-लतादि परम दु:खी हैं। स्थावर वृक्ष भी आँसू बहा रहे हैं। यहाँ लताओं से पीले-पीले पत्ते गिरनेवाले उनके आँसू माने गए है।।

उपर्युक्त भावों के आलोक में बौद्ध कवि कनिष्ककालीन अश्वघोष अपने काव्य (बुद्धचरित 7/5) में कहते हैं-

''हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा: दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तम्।
शष्पाणि मुक्त्वाऽभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्च लाक्षा मृगचारिण श्च।।''
-बुद्धचरित 7/5

इस पद्य में 'विरहकातरत्वप्रतिपादनरूप कार्य के प्रति मृगी आदि के दर्भ-कवल-त्याग आदि तीन कारणों के कथन होने से समुच्चय अलङ्कार है। पीले पत्तोके में अश्रुपात होने की सम्भावना किये जाने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। मयूर, मृगी तथा लताओं में सखीजन सदृश व्यवहार का आरोपण किये जाने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। यह गाथा छन्द है या आर्या का भेद जाति छन्द है।

यहाँ महाकवि कालिदास के काव्यों का अनुसरण महाकवि दिङ्नाग ने किया है। वस्तुत: दोनों कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया है तथा विषयगत एवं विषयीगत सहानुभूतिपूर्ण भावों का वितरण सहृदय सामाजिकों के मानस मराल में भर दिया है। दिङ्नाग की यह कीर्ति सजीव जीवन स्फूर्तिमती है। यथार्थमूल स्वाभाविक कल्पना इस दृश्य काव्य का वैशिष्ट्य है।

उत्तररामचरित नाटक के पात्र व्यक्तियों से कुन्दमाला का पात्र-व्यक्तित्व कहीं विशदतर एवं चित्रतर प्रतीत होने है।

यहाँ दूरुहता का नामोनिशान भी नहीं है। इसको पढ़ने से तथा अनुभव करने से प्रतीत होता है कि कवि ने स्वयं शब्दों का संयोजन किया है तथा अपनी आत्मा को उसमें संलग्न कर दिया है।

वैशेषिकदर्शन

वैशेशिकदर्शन के कणाद प्रणेता हैं। ये महामुनि 400-500 ई.पू. के हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'कणाद सूत्र' है। वैशेषिक दर्शन की परम्परा में प्रथम भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद हैं। 'कणादसूत्र' पर प्रथम प्रामाणिक ये भाष्यकार हैं। आचार्य प्रशस्तपाद के भाष्यग्रन्थ का नाम 'पदार्थ धर्म संग्रह' है। मौलिक ग्रन्थ जैसा इसका महत्त्व है।

आचार्य प्रशस्तपाद के स्थितिकाल के सम्बन्ध मे विद्वानों की अन्तिम सम्मति है कि या तो वे दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु (चौथी-शताबदी) के पूर्ववर्ती थे, अन्यथा उनके सम-सामयिक होने में कोई द्विविधा ही नहीं है। आचार्य वसुबन्धु, सम्राट समुद्रगुप्त के अन्तरङ्ग मित्रों में से थे। अत एव प्रशस्तपाद का यही समय है। उद्योतकर भरद्वाजगेत्रीय थानेश्वर के निवासी थे। आचार्य उद्येतकर षष्ठ शताब्दी के आरम्भ में हुए -सम्भवत: भानुगुप्त के शासनकाल में।

साङ्ख्यदर्शन

साङ्ख्यदर्शन के प्रवर्तक उपनिषत्कालीन महर्षि कपित है। इनकी कृति 'सांख्यसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। सांख्यदर्शन के आचार्यों और उनके ग्रन्थों की परम्परा विलुप्त है। गुप्त-साम्राज्य की छत्रच्छाया में इस दर्शन का अपूर्व अभ्युदय होता है।

इस युग में सांख्यदर्शन पर मौलिक और भाष्य दोनो प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन होता है।

गुप्तकालीन प्रमुख सांख्यकासरों में विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, माठर और गौडपादाचार्य के नाम उल्लेखनीय है। बौद्ध भिक्षु परमार्थ द्वारा शताब्दी के आचार्य वसुबन्धु की एक जीवनी लिखी जाती है, जिसका आङ्गलभाषानुवाद जापानी विद्वान् तकासुकु करते हैं।

इस जीवनी ग्रन्थ में उल्लेखित है कि तत्कालीन अयोध्या नरेश विक्रमादित्य के समय वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र से विन्ध्यवासी का शास्त्रार्थ होता है। उसमें बुद्धमित्र पराजित होते हैं। इस विजय के उपलक्ष्य में साहित्यानुरागी नरेश विक्रमादित्य विन्ध्यवासी को तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कर सम्मानित करते हैं। अपने गुरु की पराजय को सुनकर वसुबन्धु का आगमन अयोध्या में विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ हेतु होता है। तब तक विन्ध्याटवी में विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ हेतु होता है। तब तक विन्ध्याटवी में विन्ध्यवासी का देहावसान हो जाता है। फलत: वसुबन्धु विन्ध्यवासी के 'सांख्यशास्त्र' के खण्डनार्थ 'परमार्थ सप्तति' की रचना करते है।

इसी आधार पर विद्वद्वृन्द विन्ध्यवासी का स्थितिकाल वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र के समय 250-320 ई. के बीच मानते हैं।

कमलशील की 'तत्वसंग्रह-पञ्जिका' से विदित होता है कि विन्ध्यवासी का वास्तविक नामरुद्रिल है।

गुप्तयुग के द्वितीय सांख्यकार आचार्य ईश्वरकृष्ण होते हैं। इनकी कृति 'सांख्यकारिका' 'सांख्यदर्शन' की शीर्षस्थानीय कृति है। पण्डित वासुदेव उपाध्याय का कहना है कि ईश्वरकृष्ण की कृति 'सांख्यकारिका' पर गुप्तकालीन आचार्य वात्स्यायन के 'न्यायसूत्र भाष्य' का प्रभाव है। उपाध्यायजी का यह भी सम्भावित मन्तव्य है कि बौद्धाचार्य वसुबन्धुद्वारा 'सांख्यशास्त्र' का खण्डन करने के पश्चात् सांख्य की विलुप्त परम्परा को पुन: प्रतिष्ठित करने हेतु 'ईश्वरकृष्ण' ने 'सांख्यकारिका' की रचना की थी। अत: वसुबन्धु के अन्तर ईश्वरकृष्ण का स्थितिकाल निश्चित है।

भिक्षु परमार्थ ने चीन में रहकर 557-560 ई. के लगभग 'सांख्यकारिका' का अनुवाद 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' के नाम से चीनी भाषा में किया जो सम्प्रति उपलब्ध है और इस ग्रन्थ के आधार पर निश्चत है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण षष्ठशताब्दी से पहले हुए हैं। ईश्वरकृष्ण को विक्रम की प्रथम शताब्दी में रखना सर्वथा भ्रमपूण्र है।

तिब्बत में प्रचलित एक अनुश्रुति के अनुसार ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग में शास्त्रार्थ होने की बात मिलती है।

यदि यह तथ्यपूर्ण है तो आचार्य ईश्वरकृष्ण को वसुबन्धु के समय चतुर्थ शताब्दी के मध्य सम्राट समुद्रगुप्त के शासनकाल में होना चाहिए।

गुप्तकाल के सांख्यशास्त्रियों में आचार्य माठर और गौडपाद प्रशस्त हैं। माठर की 'माठरवृत्ति' 'सांख्यकारिका' का एक प्रमाणिक भाष्य है। 'हिरण्यसप्तति' के पूर्व लिखित ग्रन्थ है।

आचार्य माठर छठी शताब्दी से पूर्व और गौडपादाचार्य छठी शताब्दी के आरम्भ में माने जाते हैं।

मीमांसादर्शन

मीमांसादर्शन का विषय धर्म विवेचन करना है : 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसाया: प्रयोजनम्'।

वैदिक कर्मकाण्ड के विहित सिद्धान्तों के विरोधों के निराकरण में 'एक वाक्यता का प्रतिपादन संहिता ब्राह्मण और उपनिषद् आदि ग्रन्थों तक सर्वत्र विद्यमान है। 'शब्द' ज्ञानमीमांसा दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है।

जिस प्रकार 'पद' ज्ञान के लिए व्याकरण 'प्रमाण' ज्ञान के लिए न्याय एक मात्र दर्शन है उसी प्रकार वाक्य ज्ञान के लिए मीमांसादर्शन प्रमुख है। महर्षि जैमिनि मीमांसासूत्र के प्रणेता हैं। इनका स्थितिकाल 500-600 ई.पू. है।

मीमांसादर्शन के सूत्रभाष्यकार आचार्य शबरस्वामी गुप्तयुग में हुए। इनके भाष्यग्रन्थ का नाम 'द्वादशलक्षणि' है। कुमारिल (सप्तम शतक) से लेकर मुरारिमिश्र (द्वादश शतक) तक मीमांसा दर्शन की सुदीर्ध परम्परा के जितने भी आचार्य हुए उनके ग्रन्थों का मूलाधार शबरभाष्य ही है। शबभाष्यों पर वार्तिक ग्रन्थों को लिखनेवाले तीन सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापक प्रसिद्ध हैं वे हैं कुमारिलभट्ट। भट्टमत के संस्थापकप्रभाकर और गुरुमत के संस्थापक और मुरीरिमिश्र।